ज़मींदारी उन्मूलनः आलोचनाओं के जवाब

१६ अगस्त १९४९

चौधरी चरण सिंह

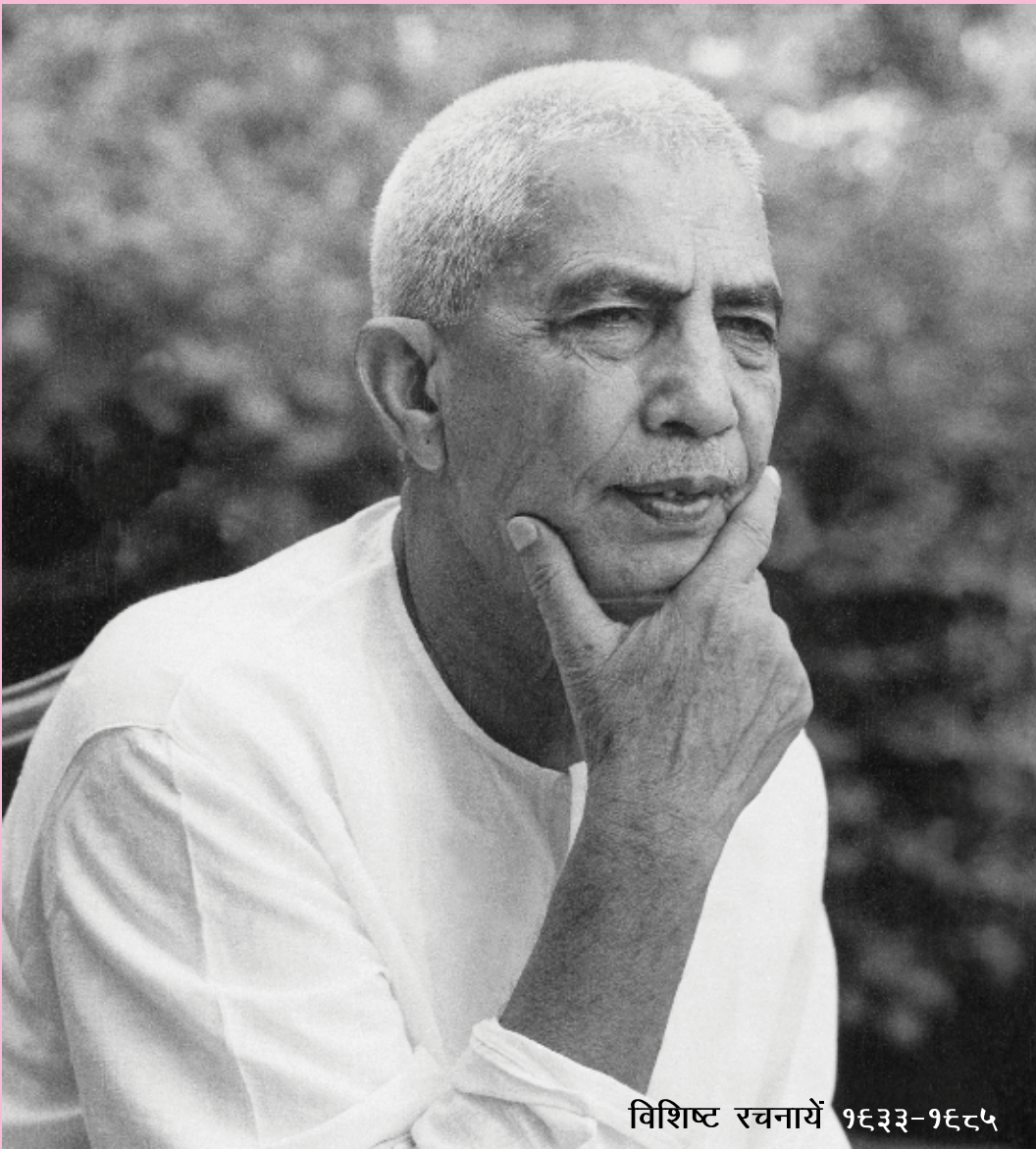

विशिष्ट रचनायें १९३३-१९८५

२६ जनवरी २०२२
चरण सिंह अभिलेखागार द्वारा प्रकाशित
www.charansingh.org
info@charansingh.org

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन को केवल पूर्व अनुमति के साथ
पुनः प्रस्तुत, वितरित या प्रसारित किया जा सकता है।
अनुमति के लिए कृपया लिखें info@charansingh.org

अक्षर तथा आवरण संयोजन राम दास लाल
सौरभ प्रिंटर्स प्राइवेट लिमिटेड, ग्रेटर नोएडा, भारत द्वारा मुद्रित।

चरण सिंह के पिता मीर सिंह तथा माता नेत्र कौर, १९५०

चरण सिंह का जन्म २३ दिसंबर १९०२ को "एक साधारण किसान के यहां छप्पर छवाये मिट्टी की दीवारों से बने घर में हुआ था, जहां आंगन में एक कुंआ था, जिसका पानी पीने और सिंचाई के काम आता था।"[1] संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) के मेरठ जिले के नूरपुर गांव में एक पट्टेदार गरीब किसान की कच्ची मढ़ैया में पैदा हुआ यह शिशु आज़ाद भारत में देहात की बुलंद आवाज बना।

---

* चरण सिंह के अपने शब्दों में

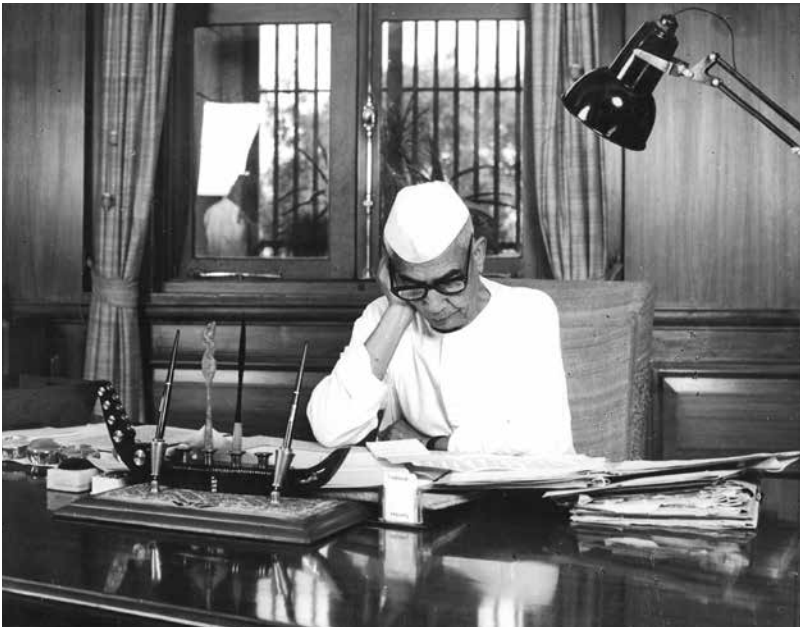

चौधरी चरण सिंह
भारत के प्रधान मंत्री। दिल्लीं, १९७९

ग्रामीण भारत के जैविक बुद्धिजीवी

१
ज़मींदारी उन्मूलन आलोचनाओं के जवाब

जिस समय चौधरी चरणसिंह के ज़मींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक के प्रारूप को उत्तर प्रदेश विधायिका के दोनों सदनों ने चयन समिति को भेजा था, तो भू–स्वामियों और उनके प्रतिनिधियों ने इसकी आलोचना की। चौधरी साहब ने इन आलोचनाओं के जबाव में एक लेख लिखा था 'एबोलिशन ऑफ ज़मींदारी इन यू० पी०: क्रिटिसिज्म एन्सर्ड'। यह लेख १६ अगस्त, १९४९ के, लखनऊ से प्रकाशित, अंग्रेजी दैनिक 'नेशनल हेरल्ड' में प्रकाशित हुआ था।

उत्तर प्रदेश ज़मींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार विधेयक अब जनता के सामने है। प्रेस और मंचों से इसे उत्साहपूर्ण, व्यापक समर्थन मिला है, फिर भी कुछ पक्षपाती या अनभिज्ञ लोगों ने इसकी आलोचना की है। इसकी पूरी उम्मीद थी कि इस व्यापक निर्णय का, जो जड़ से हमारी पूरी सामंती ग्रामीण संरचना को उखाड़ फेंकेगा, अज्ञानतावश या जानबूझ कर विरोध किया जाएगा। यहां इस लेख का उद्देश्य, जो मुख्य आपत्तियां की गयी हैं, उनका जवाब देना और दूसरी सम्बद्ध बातों का जिक्र करना है।

जैसा कि पाठक अब तक यह जान चुके होंगे कि इस विधेयक का उद्देश्य महज भूमिकर पाने वाले जमींदारों तक की हैसियत को खत्म करना है, यानी 'राज्य' और 'खेत जोतने वाले किसान' के बीच के सारे बिचौलियों को खत्म करना है; उत्तर प्रदेश की सारी ज़मीन पर 'राज्य' को अधिकार देना है तथा उन सारे लोगों को, जिनके पास कृषि की ज़मीन वैध रूप से है, भूमिधारी अधिकार देना है, चाहे उनकी वर्तमान हैसियत या उनके द्वारा देय लगान का स्वरूप जो भी हो, लेकिन काश्तकारों और शिकरी–काश्तकारों को ये अधिकार तभी मिलेंगे, जब वे जमींदार को देय सालाना लगान की क्रमशः दस और पंद्रह गुना रकम अदा करेंगे। यहां

यह स्पष्ट कर दें कि भूमिधर को ज़मीन का हस्तांतरण करने, उसे अपनी मर्जी से किसी भी रूप में इस्तेमाल करने और अपने लगान को आधे तक घटाने का अधिकार है। उन सारी ज़मीनों का, जिन पर खेती नहीं होती, चाहे वे कैसी भी हों, प्रबंधन ग्रामीण समुदाय करेगा, जिसे पंचायती राज कानून के तहत पहले ही कुछ खास न्यायिक व प्रशासनिक अधिकार दिये जा चुके हैं। सारे जमींदारों को उनकी कुल आय की आठ गुना रकम मुआवजे के रूप में दी जाएगी, और जो ५,००० रुपया या उससे कम भूमि राजस्व की अदायगी करते हैं, उन्हें पुनर्वास ग्रांट दी जायेगी, जो उनकी कुल आय के दो गुना से २५ गुना तक और विपरीत अनुपात में देय भूमि राजस्व की रकम के बराबर होगी। दोनों किस्म की अदायगियों की कुल रकम पूरे प्रदेश के लिए १३७.५ करोड़ रुपया होगी।

भविष्य में काश्तकारी

खास स्थितियों में सहकारी फार्मों का प्रावधान किया गया है, जो हालात के अनुसार अनिवार्य होगा, और इस सिलसिले में राज्य की ओर से सारे सम्भव प्रयत्न और प्रोत्साहन देने की गारंटी दी गई है, ताकि ज़मीन पर आदमी द्वारा आदमी के शोषण की स्थिति भविष्य में फिर कभी पैदा न हो। आम पट्टेदारी या भोग बंधक के जरिए बटाईदारी और संयुक्त परिवार, जिसके पास ३० एकड़ से ज़्यादा ज़मीन है, द्वारा ज़मीन बढ़ाकर पूंजीवादी तरीके से खेती करने पर भी पूरी तरह प्रतिबंध लगा दिया गया है और इन नियमों के उल्लंघन करने पर उनकी ज़मीन तत्काल छीन ली जाएगी। अलाभकारी जोतों की तादाद नहीं बढ़े, इसके लिए यह घोषित किया गया है कि दस प्रामाणिक बीघा या उससे कम की जोतों को तोड़ा नहीं जा सकता और जो बड़े आकार की जोतें हैं, उन्हें बंटवारे के लिए दस–दस बीघा से कम की जोतों में नहीं बांटा जा सकता है। अगले ४० वर्षों तक राजस्व का कोई निबटारा नहीं होगा या राज्य को दी जाने वाली अदायगी की रकम में बढ़ोतरी नहीं होगी। थोड़े में, विधेयक में किए गए ये मुख्य प्रावधान हैं, जो कुल ३१० धाराओं में सूत्रवद्ध हैं।

जिस दौरान इस महति वैधानिक कार्यवाही की तैयारी हो रही थी, कांग्रेस के विरोधियों ने जोर–शोर से यह बात फैलायी कि यह अक्षम शासन है, जो प्रस्तावों को तय करने में ज़रूरत से ज़्यादा समय ले रहा है, यानी वे दरअसल इस बात को लेकर संदिग्ध थे कि कांग्रेस सरकार ज़मींदारी उन्मूलन की अपनी बातों के प्रति ईमानदार या गंभीर थी। लेकिन आलोचक इस बात को भूल जाते हैं कि हमें सिर्फ ज़मींदारी खत्म नहीं

करनी थी, यानी सिर्फ नष्ट नहीं करना था, बल्कि एक स्थायी संरचना भी तैयार करनी थी जो न सिर्फ वर्तमान की ज़रूरतों को पूरा करेगी, बल्कि आने वाले समय में भी अपने को अर्थपूर्ण साबित करेगी। किसी भी तरह के रचनात्मक कार्य में, खासकर सामाजिक आधारों की रचना में, जो भविष्य के लिए योजना भी होती है, पूर्व विचारों और प्रभावशाली राजनीतिमत्ता के इस्तेमाल की ज़रूरत होती है। 'ज़मींदारी का उन्मूलन' एक नकारात्मक नारा है, जबकि जो लोग मसलों को हल करने में लगे हैं, उन्हें एक सकारात्मक हल–एक वैकल्पिक भूमि व्यवस्था–निकालना है।

रूस के समानान्तर

ऐसे आलोचकों के दिमाग में हमेशा रूस छाया रहा है। लेकिन एक ओर जहां रूस ने जल्दीबाजी में मौजूदा व्यवस्था को नष्ट कर दिया, उसके पास दूसरी और कोई नई योजना नहीं थी और नया विकल्प तैयार करने में उसने पूरे दस साल लगाये। क्रांति के वर्ष १९१७ से १९२७ तक, जिस वर्ष समूहीकरण के बारे में अंतिम निर्णय लिया गया, उन्हें छह बार अपनी भूमि नीति में बदलाव लाने पड़े, जिसके कारण काफी दुःख–तकलीफें झेलनी पड़ीं और ऐसी राष्ट्रीय हानियां हुईं, जिन्हें टाला जा सकता था। फरवरी १९१७ में सारी ज़मीन का कम्यूनों में एकीकरण हुआ और पुराने सिद्धांतों के आधार पर कम्यूनों के सदस्यों के बीच भूमि का वितरण हुआ। आठ महीने बाद लेनिन ने संविधान–सभा के चुनावों में किसानों के समर्थन के ख्याल से यह नारा दिया–"जो लूटा गया था, उसे लूट लो"।

फरवरी १९१८ में ज़मीनों पर हर किस्म के स्वामित्व को खत्म कर दिया गया और उनका वितरण, समान भूमि स्वामित्व के सिद्धांत के आधार पर, कामगार लोगों के बीच होना था। ज़मीन की किसी भी किस्म की खरीद–फरोख्त की मनाही हो गयी। एक साल बाद जब कम्युनिस्टों ने अपने को पूरे तौर पर सत्ता पर काबिज पाया, तब सारी ज़मीनें एकल राज्य निधि घोषित कर दी गयीं और 'हर किस्म के व्यक्तिगत भू–स्वामित्व' को समाप्ति के कगार पर बतलाया गया। बड़े सोवियत राज्य फार्मों, कम्यूनों और खेतीबारी से जुड़े अन्य किस्म के फार्मों को 'समाजवादी आधार पर खेती की व्यवस्था के लिए सबसे बेहतरीन तरीका' बतलाया गया। लेकिन यह एक गीली फुलझड़ी साबित हुई; किसानों ने कोई सकारात्मक प्रतिक्रिया नहीं दिखाई। इसीलिए मार्च १९२१ में 'खुशहाल किसानों के वास्तविक मनोविज्ञान के आधार पर राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था को विकसित करने के ख्याल से नयी आथिक नीति की घोषणा की गयी।

लेनिन ने स्वीकार किया था कि इन किसानों की मंशा और संवेदनाओं को बदलने में हम असफल रहे हैं।' अनिवार्य तौर पर अनाज की सुपुर्दगी को घटाया गया, रूबल का पुनरुद्धार किया गया और खुले बाज़ार में खरीद–फरोख्त की अनुमति दी गयी। १९२४ में कम्युनिस्ट 'दक्षिण' की ओर और ज़्यादा झुके और सरकार ने अपना नजरिया पूरी तरह बदल दिया। भूमि–कर मुद्रा के रूप में देना तय हुआ और किसानों को पट्टे पर ज़मीन देने, दिहाड़ी पर मजदूर इस्तेमाल करने और खेतीबाड़ी सम्बंधी मशीनों को खरीदने की इजाजत दी गयी।

यहां एक ऐसी व्यवस्था को विकसित करने के लिए, जो हमारे किसानों को पूरी तरह मंजूर हो, हमने महज तीन साल लिये हैं। सरकार के लिए ये साल असहज तनाव और दबावों के रहे हैं, जबकि रूसी व्यवस्था को, अगर किसानों को आजादी होती, तो इसकी स्थापना के बावजूद, दो दशक पहले वे नकार देते।

पूंजीपति

एक दूसरी आपत्ति, हालांकि उसका उन्मूलन की योजना की अच्छाइयों–बुराइयों से कुछ लेना–देना नहीं है, लेकिन इस सिलसिले में जो ज़ाहिर की गयी है, वह यह है कि हम लोग पूंजीपतियों के पक्षपाती रहे हैं, क्योंकि ज़मींदारी उन्मूलन के साथ–साथ हमने उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं किया है। इसका जवाब यह है कि चूंकि कांग्रेस बड़े व मौलिक उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिए प्रतिबद्ध है, फिर भी पूंजीपतियों और जमींदारों को एक ही पलड़े पर नहीं तोला जा सकता है। "पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य और अतिरिक्त उत्पादनों के विकास के लिए कम से कम सक्रिय भूमिका तो अदा करता है, लेकिन जमींदार खुद बिना किसी शिरकत के अतिरिक्त उत्पादों और अतिरिक्त मूल्यों में बढ़ते हुए हिस्से को हड़पता है।"

दूसरे, राष्ट्रीयकरण से औद्योगिक सर्वहारा की जिंदगी के हालात में कोई मौलिक परिवर्तन होने वाला नहीं है, क्योंकि इससे वे सिर्फ निजी उद्योगों के मालिकों के बजाए एक नये मालिक, 'राज्य' के तहत काम करेंगे और पहले की तरह ही नियमित मजदूरी के लिए उन्हीं उद्योगों में काम करेंगे, जबकि ज़मींदारी उन्मूलन का मतलब किसानों की जिंदगी में बदलाव है। साथ ही, बड़े उद्योग हमारी जनता के एक बहुत छोटे हिस्से को, कुल २२.५ लाख को काम देते हैं, जिनकी तादाद ज़मीन पर काम करने वाले लोगों की तुलना में बहुत कम है। इसलिए जरूरी है कि

राजनेता सबसे पहले ज़मींदारी खत्म करने में अपनी ऊर्जा लगायें, जो राजनैतिक व्यवस्था की सबसे बड़ी विकृति है। यह उसी तरह है, जैसे कोई डॉक्टर तुलनात्मक रूप से छोटी बीमारियों के बजाए पहले गम्भीर बीमारी का इलाज करेगा। अंत में, जब तक हमें प्रशिक्षित तकनीकी अधिकारी उपलब्ध न होंगे और जब तक नैतिक और प्रशासनिक मूल्य संतोषजनक रूप से नहीं बढ़ते, तब तक हाल–फिलहाल में राष्ट्रीयकरण से उत्पादन बढ़ने के बजाए घट सकता है।

अब जहां तक उन्मूलन के तरीकों का सवाल है, तो इतिहास में ऐसे तीन तरीके मिलते हैं। पहला तरीका जापान से उपलब्ध है, जहां २५० सामंती सरदारों ने जिन्हें 'दिआम्योस' कहते थे, १८६८ में स्वेच्छा से सम्राट के आगे अपने प्रशासनिक व वंशानुगत अधिकारों को समर्पित कर दिया था। उन्हें उनके इलाकों से होने वाली आमदनी का एक खास प्रतिशत देने की गारंटी दी गयी थी। उन्हें देखकर छोटे–छोटे आभिजात्यों ने भी, जिनकी तादाद कोई चार लाख थी, ऐसा ही किया। पहले तो उन्हें भूमि–करों के भोग की आजादी दी गयी थी, लेकिन कई मामलों में आनुवांशिकता का सिद्धांत समाप्त कर दिया गया था। उनकी सालाना पेंशने कोई एक करोड़ २० लाख पौण्ड थीं। राष्ट्रीय कोष पर इससे काफी दबाव पड़ा लेकिन बड़े स्तर पर इस समस्या का हल भी 'सामुराइयों' ने खुद निकाला था। १८७३ में एक समर्थनकारी राजशाही आदेश ने 'सामुराइयों' के राजस्व को छहसाला आनुवांशिक पेंशनों की खरीद और चारसाला आजीवन पेंशनों की खरीद की दर से तब्दील कर दिया। समय की गति के अनुकूल 'सामुराइयों' ने इस व्यवस्था को स्वेच्छा से स्वीकारा; क्योंकि उन्हें मालूम था कि उनकी उपयोगिता खत्म हो चुकी है। दुनिया के किसी भी मुल्क ने आम हित में अपने सामंती आभिजात्यों की ओर से ऐसे प्रयास की मिसाल पेश नहीं की है। इससे देशभक्ति की ऐसी धारा फूटी, जिसने जापान को महज छह दशकों की छोटी अवधि में दुनिया के पहले दर्जे के देशों में ला खड़ा किया।

दूसरा उदाहरण १९१७ की रूसी क्रांति ने पेश किया है, जहां जर्मनों द्वारा रूसी सेनाओं की घोर पराजय के बाद, काश्तकारों की बड़ी तादाद सशस्त्र विद्रोह के लिए उठ खड़ी हुई। बोयारों, जो वहां के सामंती आभिजात्य थे, का उत्पीड़न सारी सीमाएं लांघ चुका था। जमींदारों के खिलाफ आक्रोश का शिकार उनकी जायदादें और उनकी बेशकीमती चीजें, हुईं, जिनमें किसानों के लिए भी मूल्यवान चीजें थीं, जैसे कृषि यंत्र और जानबर, बिना सोचे समझे नष्ट कर दिये गये।

तीसरा उदाहरण आयरलैण्ड, डेनमार्क, जर्मनी, रूमानिया और दूसरे

योरोपीय देशों ने पेश किया है, जहां ज़मींदारी को कानून से, न कि तलवार से, खत्म किया गया और जमींदारों को मुआवज़ा दिया गया।

पहले तरीके को लागू करने की स्थिति गुजर चुकी है। अगर हमारे जमींदार जापान के रास्ते पर चले होते, तो कांग्रेस सरकार और देश ने दिल से उनकी प्रशंसा की होती। दूसरा, रास्ता न तो महात्मा गांधी की शिक्षाओं के ख्याल से, वांछनीय है और न इस दृष्टि से कि राजनीतिक शक्ति अब जनता के हाथों में है। तीसरा, और सबसे उपयुक्त रास्ता बस हमारे लिए यही बचा है, कि कलम से–शांतिपूर्ण तरीके से–जमींदारी उन्मूलन हो; और यही रास्ता है जिसका अनुसरण किया जा रहा है।

मुआवज़ा

अब मुआवजे के बारे में: यह सवाल उन्मूलन के तरीके से काफी जुड़ा हुआ है। जापान में सामंती आभिजात्य वर्ग ने नाम मात्र का मुआवज़ा स्वीकार किया था, क्योंकि उन्होंने राष्ट्र–हित के लिए अपने को मिटा देना पहले ही तय कर लिया था। रूस में मुआवजे का सवाल उठा ही नहीं, क्योंकि कोई भी, जो मुआवजे के लिए दावा कर सकता था, बचा नहीं; क्योंकि ज़मींदारी के साथ जमींदार भी खत्म कर दिये गये थे। बाकी सारे दूसरे देशों में जहां राज्य द्वारा बनाये गये कानून के जरिये ज़मींदारी खत्म की गयी, मुआवजे की अदायगी करनी पड़ी थी; कानून को कुछ खास सिद्ध ांतों पर चलना था और सारे प्रभावित पक्षों का ख्याल करना था।

जो लोग जब्त करने की नीति की वकालत करते हैं, वे संदिग्ध तरीकों का हवाला देते हैं. जिनके जरिये बीते जमाने में ज़मीनें हथियायी गयी थीं। लेकिन इन लोगों को जिनके हाथों से ज़मीन की अच्छी–खासी मात्रा का लगभग एक शताब्दी के दौरान हस्तांतरण हुआ है, साथ ही किसी पर–पोते को उसके पूर्वजों के पाप के लिए सजा देने का औचित्य भी संदेहास्पद है; खास तौर पर जब उनमें से कुछ ने अपने पूर्वजों के पापों का प्रायश्चित, बाद में आजादी की लड़ाई में सक्रिय रूप से भाग लेकर किया।

आलोचक महात्मा गांधी की उस राय का हवाला दे सकते हैं, जो उन्होंने जून १९४२ में लुई फिशर को दिये गये अपने दो साक्षात्कारों में ज़ाहिर की थी; कभी–कभी उन्होंने इसका हवाला दिया भी है। जब महात्मा गांधी से यह पूछा गया कि क्रांतिकारी उथल–पुथल के दौरान, जो वस्तुतः आने वाले अगस्त में ही देश में शुरू हो गई थी, किसानों की क्या भूमिका होनी चाहिए थी, तो उन्होंने घोषणा की कि वे (किसान) ज़मीन पर

कब्जा कर लेंगे, इसके लिए किसी को भी कहने की ज़रूरत नहीं होगी, और मुआवज़ा बिल्कुल नहीं दिया जायेगा। आखिर वह क्यों दिया जा रहा है? चूंकि महात्माजी एक ऐसी क्रांति के बारे में बात कर रहे थे, जो विदेशी शासन के साथ–साथ अगर पूरी तरह सामाजिक संरचना को नहीं, तो कम से कम मौजूदा भूमि–व्यवस्था को, जिसने विदेशियों को अपना आलम्ब दिया था, अपनी आग में निगल जाती। तब हम लोग इसमें चुक गये और अब कोई शिकायत नहीं कर सकते। फिर भी, यह वही महात्मा थे, जिन्होंने बदली हुई परिस्थितियों में दिसम्बर १९४७ में, जब चुनाव–घोषणा–पत्र का प्रारूप तैयार किया जा रहा था, कांग्रेस हाई कमान को 'न्याय संगत मुआवज़ा' देने की सलाह दी। जहां तक मुआवजे की दरों का सवाल है, जमींदारों ने दरख्वास्त की है कि यह अदालतों पर तय करने के लिए छोड़ दिया जाए कि न्याय संगत क्या है? किन्तु यदि अदालतें ज़मीन के हर टुकड़ें पर ऐसे निर्णय देने लग जाती, तो फिर ज़मींदारी उन्मूलन का कार्यक्रम लम्बे समय तक रुका रहता। हर जगह भूमि के मामले में सारी कार्यवाही विधायिका ही करती है, जिसमें जन–प्रतिनिधि होते हैं; वही सिद्धांत तय करती है और बताती है कि क्या उचित हैं।

समाजवादी आलोचक

चूंकि विधेयक की योजनाओं में कोई बड़ी गड़बड़ी या सिद्धांतगत गड़बड़ी नहीं है, इसलिए समाजवादी आलोचकों ने मुआवजे की प्रस्तावित बड़ी रकम को मुद्दा बनाया है। वे चाहेंगे कि ज़मीनों का पुनर्वितरण होने और सीमान्त, खुदकाश्त और बागान की ज़मीनों के अधिकारों की कटौती के बाद मुआवजे की अदायगी हो, और वे यह नहीं चाहेंगे कि किसी को एक लाख रुपये से ज़्यादा मुआवज़ा दिया जाए। फिलहाल उन्हें जैसा भी अच्छा लगे, या जो कहें लेकिन उनके खुद अपने ही नेता आचार्य नरेन्द्र देव ने ज़मींदारी उन्मूलन समिति को पेश किये गये ज्ञापन में ऐसी कोई शर्त नहीं जोड़ी थी। उन्होंने किसी भी व्यक्ति को अधिकतम मुआवजे की सीमा पांच लाख रुपये रखी थी और पूरे मुआवजे का हिसाब एक सौ करोड़ रुपया लगाया था। बड़े फार्मों में कटौती का मुआवजे की अदायगी से लेना–देना है या नहीं और क्या १०० करोड़ रुपया और १३७.५ करोड़ रुपये के बीच इतना बड़ा फर्क है कि इस बात को लेकर पागल हुआ जाय या इस मुद्दे को बढ़ा–चढ़ाकर सैद्धांतिक विरोध की स्थिति बनाई जाए, यह पाठक ही तय करेंगे। अब चूंकि मुआवज़ा देना ही है, तो इसके बस दो ही रास्ते हैं: 'राज्य' या तो किस्तवार बॉण्डों के रूप में इसका भुगतान

कर सकता है या काश्तकारों से कह सकता है कि वे नकद भुगतान करें। जो लोग पहले रास्ते की वकालत करते हैं, वे भूल जाते हैं कि सारे करों का भार अंततः उत्पादकों पर पड़ता है; मुआवज़ा अंततः काश्तकारों से ही आयेगा, जो ज़मीन जोतते हैं और जिनका देश के उत्पादकों में भारी बहुमत है। यह स्पष्ट है कि 'राज्य' किसी जादूगर की टोपी से मुआवज़ा पैदा कर, उसकी अदायगी नहीं करेगा।

भूमिधारी–अधिकार

विधेयक ने यह बात काश्तकारों पर छोड़ रखी है कि वे चाहें तो आज नकद अदायगी करें और उसके बदले में भूमिधारी अधिकार के साथ भूमिकर में ५० प्रतिशत की कटौती का फायदा हासिल करें, या जिस तरह आज भूमि–करों की अदायगी होती है, उसी तरह किस्तों में अदायगी कर और सीरदारी या महज खेती बारी करने के अधिकारों से संतुष्ट रहें। यह महत्त्वपूर्ण प्रावधान, मुख्यतः इस आधार पर कि खेतिहरों के पास अदायगी के लिए कुछ भी नहीं है, विरोध का केन्द्र बना है। अच्छी बात हैः अगर उनके पास नहीं है, तो उन्हें अदायगी के लिए कोई मजबूर नहीं करेगा। उत्तर प्रदेश सरकार को यह विश्वास है कि हालांकि शहरों में रहने वालों या औद्योगिक वर्गों की तरह कृषक वर्ग बहुत अच्छी स्थिति में नहीं है या वे विकसित देशों के कृषक वर्गों की तरह खुशहाल नहीं हैं, फिर भी उनके पास इतना साधन जरूर है कि वे अपनी जमाबंदी की दस गुना रकम अदा कर सकें। १९४० में देश में जारी करेंसी नोटों की कीमत २९० करोड़ रुपये थी; १९४५ में वह बढ़कर ११८० करोड़ रुपये हो गयी। अगर व्यापारियों और उद्योगपतियों ने युद्ध के दौरान अपने खजानों में रुपयों का अम्बार बढ़ाया, तो तरल मुद्रा का एक बड़ा हिस्सा गांवों में भी पहुंचा। इसके फलस्वरूप ग्रामीण ऋणग्रस्तता १९४२ तक पूरी तरह, कम से कम उत्तर प्रदेश में, खत्म हो गयी। यह ऐसा सच है, जिसे गांवों के मामलों से ताल्लुकात रखने वाले जान सकते हैं।

साथ ही, आलोचक यह नहीं समझ पाते कि किसान में ज़मीन के लिए एक तीव्र ललक होती है; दरअसल किसान होने पर ही ज़मीन की लालसा को समझा जा सकता है। ज़मीन से एक सुरक्षा–बोध होता है और भविष्य में फायदे का इससे आश्वासन मिलता है, जो किसी दूसरी सम्पत्ति से नहीं मिलता।

यह जीवंत सम्पत्ति है। पैसा और दूसरी सम्पत्तियां इस्तेमाल करके खत्म की जा सकती हैं, मगर ज़मीन नहीं। आदमी मर जाता है, लेकिन

ज़मीन रहती है। कई पीढ़ियों से किसान उस दिन का सपना देखता रहा है, जब उस ज़मीन को, वह जिसे जोतता है, अपनी कह सकेगा। आज वह सपना पूरा हुआ है। इच्छा की यह पूर्ति या संतोष, जो खेतिहर अपनी ज़मीन पर पूर्ण स्वामित्व से महसूस करेगा, उसकी तुलना क्या पैसे या किसी भौतिक चीजों से की जा सकती है? नहीं, यह सोचना ही असम्भव है। भूमिधर बनने के लिए वह अपनी सारी दूसरी चीजों को त्याग सकता है, यहां तक कि अपनी पत्नी के जेवरों को भी।

खेतिहर की उपलब्धियां

खेतिहर की उपलब्धि, अगर पैसे के ख्याल से भी आंकी जाएं, तो वह परिणम की दृष्टि से बहुत ज़्यादा है। मान लीजिए उसके पास पांच एकड़ ज़मीन है, औसतन वह आज २५ रुपया भूमि–कर देता है। अगर वह २५० रुपये दे दे, तो भविष्य में वह सालाना १२.५० रुपया देगा, जो किसी भी हालत में अगले चालीस वर्षों तक नहीं बढ़ाया जायेगा। इसका मतलब है कि वह ४० वर्षों में ५०० रुपये की आमदनी करेगा या बचत करेगा, जो आज के उसके भुगतान की दूनी रकम है। बैंक की दर से २५० रुपया इस अवधि में बढ़कर कुल ४०० रुपया ही होगा। साथ ही, चूंकि भूमिधारी अधिकार हासिल करने के कारण वह आज अपनी ज़मीन नहीं बेच सकता या उस पर कर्ज नहीं ले सकता, अतः डेढ़ हजार रुपया प्रति एकड़ की दर से उसकी ज़मीन की कीमत बढ़कर कम से कम साढ़े सात हजार रुपया हो जायेगी। इस योजना से देश और प्रदेश को काफी फायदा होगा।

आज हमारा उत्पादन लगभग उतना ही है, जितना १९३९ में था, जबकि उस समय से करेंसी चार गुना बढ़ गयी है। मांग और पूर्ति के नियम के अनुसार कीमतें भी चार गुना या बिलकुल सही–सही कहा जाए तो ३७८ प्रतिशत बढ़ी हैं। उपभोक्ता वस्तुओं की गांवों में मांग बढ़ी है और हम इसकी पूर्ति नहीं कर सकते। कृषि और औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने की हमारी योजना फलीभूत होने में पांच से दस साल लगेंगे। नतीजतन उपभोक्ता, जिसके पास आज क्रय–शक्ति है, विदेशी वस्तुएं खरीदने लगा है, जिससे पूरे देश पर ९५ करोड़ रुपये का प्रतिकूल असर पड़ा है। किस्त बॉण्डों के जरिये मुआवज़ों के भुगतान के कारण १३७.५ करोड़ रुपये की अतिरिक्त नयी राशि पैदा होती है, जिसका बाज़ार पर गहरा असर पड़ता है। किसानों द्वारा नकद भुगतान का मतलब लाखों–लाख जेबों से क्रय–मुद्रा का सफाया कर, उसे महज

३० हजार जेबों में बड़ी–बड़ी मात्राओं में इकट्ठा करना है, क्योंकि उन जमींदारों की इतनी ही संख्या है, जो २५० रुपये से ज़्यादा भूमि राजस्व का भुगतान करते हैं। इसका मतलब है कि ज़मींदारी उन्मूलन के बाद उपभोक्ता वस्तुओं के खरीददार कई गुना कम होंगे, और कीमतें घटेंगी। आर्थिक स्थिति बिगड़ने के बजाए सुधर जाएगी।

बॉण्ड

बॉण्ड जारी करने का मतलब प्रदेश के भविष्य को लगभग चालीस साल के लिए बंधक रखना था। और अगर बाज़ार में मंदी हुई, तो भूमिकरों को कम करने की मांग होगी, जिसे, चूंकि किसानों के पास वोटों का प्रतिशत बहुत ज़्यादा है, अस्वीकार करना बिल्कुल मुमकिन नहीं होगा। इस मांग की स्वीकृति का नतीजा राष्ट्र–निर्माण की गतिविधियों में प्रदेश की क्षमता को कुंद बनाना होगा, या भू स्वामियों को किये गये वायदों से मुकरना होगा, और बॉण्डों को अगर खारिज नहीं, तो उनका अवमूल्यन करना होगा।

आत्मिक संतुष्टि

इस प्रावधान से जमींदारों के दिलों को और ज़्यादा शांति मिलनी चाहिए; आखिर, बड़े जमीदार को तो बाज़ार मूल्य नहीं अदा किया जा रहा था। बड़े जमींदार का तर्क था कि जो भी मुआवज़ा उसे मिलना था, उसे चालीस वर्षों के दरम्यान बांटना और उसके अवमूल्यन या खारिज होने के खतरे की सम्भावना बनी रहना उचित नहीं था। यह समझना मुश्किल नहीं है कि जमींदार की बातों में दम था। अब.उसे रकम नकद मिलेगी और वह उससे जो चाहे कर सकता है। यह इस योजना के बारे में एक और अच्छी बात है। क्योंकि वह पैसे को कार खरीदने, अलशेसियन कुत्तों या रेस के घोड़ों आदि पर जाया नहीं कर सकता, वह उन्हें उद्योगों में नियोजित करेगा, जो मध्य वर्गों द्वारा बचत और नियोजन की अक्षमता के कारण पूंजी के अभाव में संकटग्रस्त रहे हैं।

ज़्यादा पूंजीपति

दूसरी आपत्ति यह ज़ाहिर की जा रही है कि इस योजना से जितने जमींदार खत्म किये जा रहे हैं, उससे भूमिधरों के रूप में कई गुना

ज़्यादा पूंजीपति या जमींदार बनाए जा रहे हैं जिससे शोषण जारी रहेगा। लेकिन अगर विधेयक को ध्यान से पढ़ा जाए, तो इस तरह के सारे भय दूर हो जायेंगे। दरअसल जो खत्म किया जा रहा है, वह जमींदार–खेतिहर रिश्ते की व्यवस्था है, न कि ज़मीन से जुड़े सारे हितों की। इसके लागू होने पर प्रदेश में कोई छोटा या बड़ा काश्तकार नहीं रहेगा। उत्तर प्रदेश में उपकाश्तकार भी नहीं रहेंगे, जिन्हें कभी कोई अधिकार या किसी अधिकार का आश्वासन नहीं मिला था। पांच साल बाद उनकी भूमिधरों के रूप में उन्नति होगी, और चूंकि पट्टदारी पर पूरी तरह प्रतिबंध लगाया जा रहा है (विकलांगों को छोड़कर, जिनके लिए विकलांगता की अवधि तक इसकी छूट रहेगी), भविष्य में भी कोई शोषक काश्तकार पैदा नहीं होगा, और इसलिए कोई जमींदार भी नहीं रहेगा। भूमिधर को महज हस्तांतरण का अधिकार मिलने से वह शोषक नहीं हो जाएगा, क्योंकि ज़मीन सिर्फ वही खरीदेगा या अपने कब्जे में रखेगा, जो उसे खुद जोतने के लिए तैयार हो। समाज के लिए यह बात मायने नहीं रखती कि किसान के रूप में 'अ' की जगह 'ब' ले लेता है। सरकार की चिंता बस यही है कि भविष्य में कोई शोषक पैदा न हो और इसकी पूरी व्यवस्था कर दी गई है। भविष्य के लिए फार्मों की ऊपरी सीमा तय कर खेतों में काम करने वाले श्रमीकों के शोषण की गुंजाइश काफी हद तक खत्म कर दी गयी है। उपर्युक्त स्थितियों में भूमिधर को किसान–मालिक या पूंजीपति बनाने की बात करना तथ्यों को गलत ढंग से पेश करना है पूंजीपति का असल काम पूंजी संग्रह करना है, जो वह (भूमिधर) नहीं करेगा। हालांकि कभी–कभी वह दूसरों से काम कराएगा, परन्तु अधिकतर शारीरिक श्रम वह खुद करेगा।

अलाभकारी जोतें

एक और आलोचना, जिसको विरोधी ज़्यादा तरजीह देते हैं, की गई है कि विधेयक में अलाभकारी जोतों का कोई निदान नहीं दिया गया है। पाठक याद करेंगे कि भविष्य में अलाभकारी जोतें वजूद में न आएं, इसका ख्याल किया गया है। साथ ही, गांव में सहकारी खेती न होने पर किसी अलाभकारी ज़मीन धारक का ज़मीन पर पहला दावा होगा, जिसे ग्रामीण समुदाय पुनः अपने कब्जे में ले सकता है। फिर भी, बहुत स्पष्ट कहा जाए, तो अलाभकारी जोतें हैं और रहेंगी, क्योंकि ज़मीन इतनी ज़्यादा नहीं है कि हरेक आदमी को दी जा सके, और इसे पैदा नहीं किया जा सकता।

समाजवादी प्रवक्ताओं ने प्रदेश की विधान सभा में निदान के दो तरीके सुझायेः बड़े फार्मों को, मसलन जो ५० एकड़ से ज़्यादा बड़े हैं, तोड दिया जाए, और अतिरिक्त ज़मीन अलाभकर जोत वाले किसानों को दे दी जाए।

पुनर्वितरण

अब प्रदेश में कम से कम ७५ लाख किसान परिवार हैं। क्या यह प्रस्ताव अमल में लाना सम्भव है कि उन सबको भूसम्पत्तियों से बेदखल कर दिया जाए और सभी में ज़मीनों को बराबर–बराबर बांटा जाए? कुछ भी असम्भव नहीं हो सकता, मगर ऐसा करने में ५० साल लग जायेंगे, उस समय तक, अगर देश प्रगति के रास्ते पर सफलतापूर्वक बढ़ता रहा, तो ऐसा करना आवश्यक नहीं रह जायेगा। लेकिन, मान लीजिए कि ऐसा पुनर्वितरण सम्भव है और एक दिन में किया जा सकता है, तो क्या बराबर की मई नयीं जोतें लाभकारी होंगी? आज कुल ४१३ लाख एकड़ क्षेत्रफल की ज़मीन पर खेती होती है। हरेक परिवार को लाभकारी जोत के लिए, जो खुद समाजवादियों के अनुसार १२.५ एकड़ प्रति परिवार है, हमें ९०० लाख एकड़ ज़मीन की ज़रूरत होगी। और महज ८० लाख एकड़ ज़मीन को 'कृषि योग्य परती ज़मीन' करार दिया गया है, जिसका एक बहुत छोटा उपयोग उद्धार के लायक है। ये आलोचक ४८७ लाख एकड़ या लगभग उतनी ज़मीन की ज़रूरत को कहां से पूरा करेंगे?

जहां तक बड़े फार्मों को तोड़कर छोटा करने की बात है, तो सिर्फ नौ हजार ऐसे जमींदार हैं जिनके पास ९ लाख एकड़ सीर और खुदकाश्त की ज़मीन है, यानि प्रत्येक के पास औसतन १०० एकड़। इन फार्मों से बांटने के लिए ४.५ लाख एकड़ ज़मीन हासिल हो सकती है, इस आकार के फार्मों की तादाद उतनी ही हो सकती है, मगर सही–सही आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। बहरलाल, नौ लाख एकड़ के इस अतिरिक्त क्षेत्रफल के कितने लाभकारी फार्म बन सकते हैं? हमें मालूम होना चाहिए कि वर्तमान फार्मों में से दो–तिहाई से कम फार्म अलाभकारी हैं। साथ ही, अगर हम फार्मों को तोड़ना, अतिरिक्त ज़मीनों की हदबंदी करना और इसको चाहने वाले बहुत से लोगों में से बहुत थोड़े लोगों में इसका निबटारा करना तय करते हैं, तो हमें अपने उद्देश्य को हासिल करने के लिए कम से कम और पांच साल तक अवश्य इंतजार करना पड़ेगा। इसके अलावा, बड़े फार्मों को छोटा करने के इस काम का, जिससे कृषक की स्थिति में कोई संतोषजनक राहत नहीं पहुंचने वाली है, ज़मींदारी को खत्म करने के उद्देश्य से कोई लेना–देना नहीं है, और अगर देश के हित में ऐसा

करने की ज़रूरत पड़ती ही है, तो यह सुविधा से, भविष्य में कभी भी किया जा सकता है।

भूमिहीन मजदूर

एक और आलोचना, जो सुनने में आयी है वह यह है कि इस विधेयक में भूमिहीनों के लिए आशा का कोई संदेश नहीं है। इस सिलसिले में एक भय को, जिसे ज़ाहिर किया गया है, दूर करना अप्रासंगिक नहीं होगा, और वह यह है कि पट्टेदारी पर प्रतिबंध लगने के कारण कोई अपनी ज़मीन अपने फार्म मजदूर को दिहाड़ी के बदले नहीं देगा या साझेदारी में खेती नहीं करेगा। अतः भूमिहीन श्रमिकों की स्थिति और बिगड़ने की सम्भावना है। इस तर्क का कोई आधार नहीं है। इन दोनों किस्मों के रोज़गार की स्थिति में कतई कोई परिवर्तन नहीं किया गया है, और वह आज भी वैसी ही है, जैसी पहले थी। विधेयक के तहत दिहाड़ी के बदले में ज़मीन देना उसके सेवा काल तक के लिए सम्भव है, और काम करने के लिए साझेदारी का मतलब पट्टेदारी नहीं होगा।

भूमिहीनों के हित में सकारात्मक कदम उठाने के रूप में विधेयक ने उन सारी ज़मीनों पर, जिन पर खेती नहीं होती, ग्रामीण समुदाय को अधिकार दिया है। इससे वर्तमान स्थितियों में उनकी जितनी दिलचस्पी ज़मीन में सम्भव है, उसकी गुंजाइश दी गयी है। साथ ही, उन्हें अपने मकानों का मालिक घोषित किया गया है, जिनसे कल तक इच्छानुसार उन्हें बिना मुआवज़ा दिये निकाल बाहर किया जा सकता था।

सहयोग और दबाव

समस्या के किसी बेहतर हल के अभाव में कुछ आलोचक यह सुझाव देने के लिए मजबूर हैं कि अलाभकारी जोतों की समस्या से उबरने और भूमिहीनों को रोज़गार देने के लिए सहकारी कृषि को अनिवार्य बनाया जाए। जैसाकि हम देखेंगे, सहकारी कृषि को भुलाया नहीं गया है। लेकिन पूरे तौर पर इसे लोगों के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। 'अनिवार्य सहकारिता' का कोई मतलब है? वह 'अनिवार्य सामूहिक कृषि' भी हो सकती है, जिसे, कोई अपनी कल्पना–शक्ति का चाहे कितना भी इस्तेमाल करे, 'सहकारी कृषि' नहीं कहा जा सकता। साथ ही, अगर अनिवार्य समूहीकरण सम्भव हो, तो क्या उससे समस्या हल हो जाएगी? पहला, अनिवार्यता के दबाव से किसानों को मिलने वाला आवश्यक प्रोत्साहन

खत्म हो जाएगा और उत्पादन घट जाएगा। सामूहिक कृषि में श्रम साधनों के एकत्रीकरण से आज का स्वतः नियमित किसान मजदूर में बदल जाएगा, जिसका आखिरी दम तक वह विरोध करेगा। दूसरे, छोटी–छोटी जोतों को खत्म करने के पीछे मुख्य कारण यह है कि उनसे उनके वर्तमान धारकों को पूरा काम नहीं मिल पाता। लेकिन क्या बड़ी इकाइयों में उनके विलय से उनके वर्तमान धारकों को ही नहीं बल्कि दूसरे २५ प्रतिशत अतिरिक्त हाथों को काम मिल जाएगा, जिसकी बेहद ज़रूरत है? नहीं, ऐसा नहीं होगा। साथ ही, सहकारी या सामूहिक कृषि से भूमिहीनों को काम मिलने के बजाय बेरोज़गारी बढ़ेगी, क्योंकि मवेशियों का संयुक्त स्वामित्व सम्भव नहीं है और मशीनें ज़्यादा से ज़्यादा इस्तेमाल में आने लगेंगी, जो श्रमिकों की जगह ले लेंगी।

तब और क्या निदान है? वह पूरे ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारिता के आधार पर संगठित दस्तकारी या छोटे कुटीर उद्योगों तथा छोटे मशीनीकृत उद्योगों का जाल बिछाना है। इन उद्योगों को बिजली की आपूर्ति जल–विद्युत् बांधों से होगी, जो निर्माणाधीन हैं। सिर्फ यही विकेन्द्रित उद्योग है, जिससे विशाल जनसंख्या को, जो भारत में पूंजी की तुलना में ज़्यादा आसानी से उपलब्ध हैं, और जिन्हें आज या तो कोई काम नहीं है या जिन्हें पूर्ण रोज़गार हासिल नहीं है, रोज़गार मिल सकता है। यह तथ्य अब पूरी दुनिया में स्वीकार किया जाता है कि बड़े उद्योग की तुलना में छोटा उद्योग प्रति इकाई ज़्यादा रोज़गार देता है। वह दौर बहुत पहले गुजर गया, जब व्यापक स्तर पर उत्पादन का मूल्य घटाने के जरिए मांग और उत्पादन बढ़ाकर उद्योग का विस्तार होता था और इसलिए रोज़गार बढ़ता था। अब तकनीकी विकास के कारण हमें अतिरिक्त धन पैदा करने के लिए आनुपातिक रूप से कम से कम आदमियों की ज़रूरत पड़ती है। इसका नतीजा यह कि बड़े स्तर पर उत्पादन करने वाले उद्योग आज उतने प्रतिशत लोगों को रोज़गार नहीं दे पाते, जितना कि पहले देते थे।

मानव–शक्ति

लेकिन अगर इतनी ज़मीन उपलब्ध भी होती कि सारी मानव–शक्ति को काम दिया जा सके, तब भी यह जरूरी है कि हमारे देश के लोग आज कृषिक रोज़गार के बजाय औद्योगिक–रोज़गार चुनें या उन्हें औद्योगिक रोज़गार उपलब्ध कराया जाना चाहिए। किसी न्यायपूर्ण समाज में श्रम को उसकी मात्रा और गुण, यानी जितनी ऊर्जा खर्च की गयी हो और जिस तरह की दक्षता हो, उसके अनुसार पुरस्कार मिलना चाहिए, ताकि एक

घंटे के श्रम, मसलन खेत जोतने के श्रम, के बदले उतना ही पुरस्कार मिल सके, जितना कारखाने के एक मामूली मशीन वाइन्डर को एक घण्टे के श्रम के बदले मिलता है। लेकिन २२ देशों के आंकड़ों के आधार पर एक अर्थशास्त्री द्वारा की गयी गणना के अनुसार, "कृषि गतिविधि की तुलना में दूसरी सारी गतिविधियां औसतन ४.३५ प्रतिशत ज़्यादा उत्पादक हैं।" इस असमानता की वजह बताने की यहां मुझे ज़रूरत नहीं है, लेकिन यही वजह है कि तुलनात्मक रूप से कृषक वर्ग हर जगह हमेशा गरीब रहा है। वह समाज के औद्योगिक, व्यापारिक व दूसरे हिस्सों से ज़्यादा गरीब रहा है। और फिर यही वजह है कि सारे देशों में राजनेताओं द्वारा जान–बूझकर लागू की जाने वाली नीतियों के नतीजों में ग्रामीण आबादी का, यहां तक कि खेती पर सबसे ज़्यादा निर्भर करने वाले देशों में भी, ह्रास हो रहा है और वह समय के दौरान पूरी आबादी का छोटा और फिर और ज़्यादा छोटा हिस्सा बनती जा रही है। लेकिन हमारे देश की कहानी अलग है। यहां सीधे–सीधे खेती पर निर्भर करने वाली आबादी का अनुपात १८९१ में ६१ प्रतिशत से बढ़कर १९२१ में ७३ प्रतिशत हो गया और उद्योगों पर निर्भर आबादी का प्रतिशत १८९० में १२.३ से घटकर १९३१ में ९.७ रह गया।

विकेन्द्रीकरण

इसलिए यह देश के या भूमिहीन लोगों के हित में नहीं होगा कि उन्हें कृषि के पेशे से बांध दिया जाए। मानकीकरण तथा जल–विद्युत से आज यह किसी भी देश के लिए सम्भव हो गया है कि वह आबादी के केन्द्रीकरण के बिना, जैसा कि पिछली शताब्दी में बड़े नगरों में हुआ था, या गांवों से उनके मौलिक सम्बंध को खत्म किए बिना, औद्योगीकृत हो सके। इसलिए बेरोज़गारी के एक मात्र निदान के रूप में हमें अपनी ऊर्जा को विकेन्द्रीकृत उद्योग की ओर मोड़ना होगा। उद्योग और कृषि के बीच सचमुच एक सही संतुलन स्थापित करने के लिए हमें अपने किसानों की आबादी के, जिसे पूर्ण रोज़गार उपलब्ध नहीं है, एक अच्छे–खासे प्रतिशत को उद्योगों की ओर ले जाना होगा।

इस सिलसिले में एक और सवाल से निबटना संदर्भ के परे नहीं होगाः समाजवादी आलोचक यह भविष्यवाणी करते हैं कि निकट भविष्य में ग्रामीण समाज का विकास दो स्पष्ट खेमों में होगा और दोनों में अवश्यम्भावी टकराव होगा–एक तरफ शोषक भूमिधर होगा और दूसरी ओर शोषित भूमिहीन मजदूर। लेकिन १९३१ की जनगणना के अनुसार

उत्तर प्रदेश में, जबकि किसानों की तादाद १३,८०७,१५७ थी, भूमिहीन मजदूरों की तादाद महज ३,४१९,१८५ थी। दोनों का अनुपात १० : २५ था। इसलिए ऐसे समाज में, जहां काम देने वाले सम्भावित मालिकों की तादाद की तुलना में रोज़गार के लिए उपलब्ध व्यक्तियों की तादाद बहुत ज़्यादा है, दिहाड़ी दासता या सर्वहारा का सवाल नहीं उठ सकता और नतीजतन वर्ग–युद्ध का सवाल पैदा नहीं होता।

उत्पादन

एक अन्य आपत्तिः ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जिन्होंने शिकायत की है कि यह उन्मूलन योजना गरीबी से राहत दिलाने या उत्पादन बढ़ाने में सहायक नहीं होगी। बस इतना कहना पर्याप्त होगा कि चाहे जो हो, यह योजना ज़्यादा उत्पादन के लिए प्रोत्साहन देती है और ऐसा कोई और योजना नहीं कर सकी है। हमें यह मालूम है कि एक किसान, जो अपनी ज़मीन का मालिक भी है, किसी काश्तकार या दिहाड़ी के मजदूर से ज़्यादा कड़ी और ज़्यादा घंटों तक मेहनत करता है। जो इस बयान की सच्चाई जानना चाहते हैं, वे मेरठ और मुजफ्फरनगर जिलों के गांवों में जाकर उनकी स्थिति की तुलना अवध के गांवों से कर सकते हैं। दोनों में बेहद फर्क है; और इसकी वजह उन दोनों जगहों की काश्तकारी में है। मेरठ और मुजफ्फरनगर के गांवों में अधिकांश खेतों पर स्वामित्व और कब्जा एक ही हाथ में होता है, अवध में ऐसा नहीं है।

दूसरे, ऐसा दावा कहीं नहीं किया गया है कि हम ज़मींदारी खत्म करने के अलावा उत्पादन बढ़ाने के लिए और कुछ नहीं करना चाहते। उत्पादन के कारक के रूप में स्वामित्व के जादू के साथ–साथ पानी, खाद, अच्छा बीज, शिक्षा और गांवों को बाज़ारों से जोड़ने के लिए सड़कों की ज़रूरत है। उत्तर प्रदेश सरकार पूरी ईमानदारी से इन चीजों को उपलब्ध कराने के लिए कार्यरत है, लेकिन यहां इन योजनाओं की विस्तार से चर्चा करना अनावश्यक है।

एक सुझाव का ठुकराना

उत्तर प्रदेश विधान सभा में जमींदारों के नेता ने बड़े भोले ढंग से सुझाव दिया कि विरोध की स्थिति में ऐसे व्यापक विधेयक को पेश करने के बजाय सरकार एक छोटा विधेयक पेश कर सकती थी, जिससे जमींदारों को लगान का दस गुना भुगतान करके काश्तकार उसी से स्वामित्व का

अधिकार सीधे–सीधे हासिल कर सकते हैं। और, कि जमींदार इसका स्वागत करेंगे।

शायद, यहां यह बताना अनुचित नहीं होगा कि मैंने १९३९ में 'भूमि उपयोग विधेयक' के नाम से एक विधेयक बिल्कुल इसी नजर से तैयार किया था, लेकिन निम्नलिखित कारणों से उसे मंत्रिमंडल के विचार–विमर्श के लिए पेश नहीं किया गया। पहला कारण है कि अगर मेरा प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता, तो ग्रामीण समुदाय को कोई ज़मीन नहीं मिलती। छोटे जमींदारों को जो कुछ मिलेगा, उससे कम मिलता। इस योजना के तहत धार्मिक और धर्मार्थ संस्थाएं अपनी आमदनी से, जिसकी वर्तमान विधेयक में गारंटी दी गयी है, महरूम हो जातीं 'राज्य' को ज़मीन पर बचे–खुचे अधिकार से धोखे से वंचित किया जाता, जो अब राज्य के पास रहेगा और जमींदार अभी भी उन काश्तकारों पर, जो पैसे की व्यवस्था नहीं कर सकते हैं, अपना स्वामित्व चलाते हैं।

उपर्युक्त ही मुख्य आपत्तियां हैं जो की गयी हैं। पाठक पाएंगे कि विधेयक जिस रूप में है, उसे वह शक्ल देने में प्रदेश सरकार किसी नारे से प्रभावित नहीं हुई है और साधनों को लेकर किसी भ्रम में नहीं रही है। देश के हालात पर, जहां आबादी की तुलना में ज़मीन बहुत थोड़ी है और जिस तरह की सभ्यता हम विकसित करने की आशा करते हैं, गौर करते हुए सरकार ऐसा कदम उठाने में हतोत्साहित नहीं हुई है, जो हमारी ज़रूरतों को बेहतरीन ढंग से पूरा करता है, और न ही इस पर उसे किसी समाजवादी या साम्यवादी स्वीकृति की मुहर की दरकार रही हो। काश्तकार, जो लम्बे काल तक दुःख–दर्द झेलते रहे हैं और ज़मींदार जिन्होंने उन्हें बेहद भयभीत किया व सताया है, दोनों समाप्त हो जाएंगे। उनकी जगह एक किसान का उदय होगा, जो एक साथ ही ज़मीन का मालिक और रोजी कमाने वाला होगा; मिश्रित हितों की यह स्थिति मार्क्सवादी सिद्धांतों को चुनौती देती है। हमारी अवधारणा का भूमिधर जनतंत्र का आधार होगा और वह समाज की सारी बुराइयों और उसमें दरार पैदा करने वाली हवाओं, जो किसी भी दिशा से बह सकती हैं, के सामने अड़िग खड़ा होगा।

चौधरी चरण सिंह द्वारा रचित कृतियां

शिष्टाचार, १९४१. (२०१ पृष्ट)

हाउ टू एबोलिश जमींदारीः ह्विच एल्टरनेटिव सिस्टम टू एडाप्ट। (ज़मींदारी उन्मूलन कैसे करें: किस वैकल्पिक प्रणाली को अपनाएं) १९४७. इलाहाबादः सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, संयुक्त प्रांत।

एबोलिशन ऑफ ज़मींदारीः टू अल्टरनेटिव्ज। (जमींदारी उन्मूलनः दो विकल्प) १९४७. किताबिस्तान, इलाहाबाद. (२६३ पृष्ट)

एबोलिशन ऑफ जमींदारी इन यू० पी०: क्रिटिक अंसरड। (उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलनः आलोचकों को जवाब) १९४९. इलाहाबादः सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, संयुक्त प्रांत।

व्हितहर कोआपरेटिव फार्मिंग? (सामूहिक खेती की दिशा?) १९५६. इलाहाबादः सुपरिन्टेन्डेन्ट प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, उत्तर प्रदेश।

एग्रेरियन रिवोल्यूशन इन उत्तर प्रदेश। (उत्तर प्रदेश में कृषि क्रांति) १९५७. प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, गवर्नमेंट ऑफ उत्तर प्रदेश १९५८ लखनऊ, सुपरिन्टेन्डेन्ट, प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी, उत्तर प्रदेश। (६६ पृष्ट)

जॉइंट फार्मिंग एक्स–रैडः द प्रॉब्लम एंड इट्स सोल्यूशन। (संयुक्त खेतीः समस्या और समाधान) १९५९. किताबिस्तान, इलाहाबाद. (३२२ पृष्ट)

इण्डियाज पॉवर्टी एण्ड इट्स सोल्यूशन। (भारत की गरीबी और उसका समाधान) १९६४. एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई। (५२७ पृष्ट)

इण्डियन इकोनॉमिक पॉलिसीः दि गांधियन ब्लूप्रिंट। (भारत की अर्थनीतिः एक गांधीवादी रूपरेखा) १९७८. विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। (१२७ पृष्ट)

इकोनॉमिक नाइटमेयर ऑफ इण्डियाः इट्स कॉज़ एण्ड क्योर। (भारत की भयावह आर्थिक स्तिथिः कारन एवं निदान) १९८१. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। (५९८ पृष्ट)

लैण्ड रिफॉर्म्स इन यू० पी० एण्ड दि कुलक्स। (उत्तर प्रदेश में भूमि सुधार एवं कुलक वर्ग) १९८६. विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। (२२० पृष्ट)

'विशिष्ट रचनाएंः चौधरी चरण सिंह' भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री चरण सिंह द्वारा १९३३ और १९८५ के बीच लिखित २२ महत्वपूर्ण लेखों और भाषणों का संग्रह है। इस पुस्तक के अध्ययन से आज का पाठक वर्ग जान सकेगा कि मौजूदा समय की चुनौतियां न तो नई हैं और न ही समाधानहीन। इनसे निपटने के लिए एक मन–सोच अथवा जिगरा चाहिए, जो निश्चय ही धरा–पुत्र चरण सिंह में था। उनका लेखन उस प्रकाशस्तंभ की तरह है जो समुद्र में भटके हुए जहाजों को किनारे तक आने का रास्ता दिखाता है। उनके लेखन के आलोक में हम मौजूदा चुनौतियों को सही परिप्रेक्ष्य में न केवल समझ सकते हैं अपितु उनका समाधान भी पा सकते हैं। इन लेखों में उनकी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि के दर्शन होते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इन लेखों को सामाजिक लेखन, आर्थिक लेखन, राजनीतिक लेखन एवं उपसंहार – चार खण्डों में विभाजित किया गया है।

चौधरी चरण सिंह की अध्यात्मिक अंतश्चेतना और राजनीतिक मेधा महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं महात्मा गांधी से अनुप्रेरित रही, तो सरदार पटेल उनके नायक रहे। इन विभूतियों पर चौधरी साहब ने अपने विचार लेखों में प्रस्तुत किये हैं। जाति–प्रथा, आरक्षण, जनसंख्या नियंत्रण, राष्ट्रभाषा जैसे सामाजिक मुद्दों के साथ ही शिष्टाचार जैसे विरल विषय पर भी दो लेख **खण्ड एकः सामाजिक लेखन** में दिये गये हैं।

चौधरी साहब भारत की उन्नति का मूल आधार कृषि, हथकरघा और ग्रामीण भारत को मानते थे। उनकी दृष्टि में ग्रामीण भारत ही वह नियामक तत्व रहा जिसे प्रमुखता देकर देश को आर्थिक रूप से सशक्त बनाया जा सकता है, साथ ही बेरोजगारी जैसी विकट समस्या को भी दूर किया जा सकता है। उत्तर प्रदेश में भूमि सम्बंधी सुधारों और जमींदारी समाप्त करने को लेकर चौधरी चरण सिंह पर धनी किसानों के पक्षधर होने के आरोप विरोधियों ने लगाये। उनका उन्होंने बेहद तार्किक ढंग से उत्तर दिया है। गांव–किसान और खेती के प्रति उपेक्षापूर्ण नीतियां एवं काले धन की समस्या जैसे तथा उपरोक्त विषयों पर केन्द्रित लेख **खण्ड दोः आर्थिक लेखन** के अन्तर्गत दिये गये हैं।

खण्ड तीनः राजनीतिक लेखन के अन्तर्गत भारत की लम्बी गुलामी के मूल कारणों का विश्लेषण, गांधी–चिंतन, देश में पहली गैर–कांग्रेसी जनता पार्टी की सरकार की आधारभूत नीतियां, देश विख्यात माया त्यागी कांड का समाजशास्त्रीय विश्लेषण, भाषा आधारित राज्यों के खतरे आदि मुद्दों के अलावा उनके नायक सरदार पटेल की स्मृति पर आधारित लेख हैं। इसी खण्ड में चौधरी साहब के ऐतिहासिक महत्व के दो भाषण भी संकलित हैं, जो लोकशाही पर संकट और राष्ट्रीय विघटन के खतरों के प्रति सचेत करते हैं।

अंतिम **खण्ड चारः उपसंहार** है, जिसमें चौधरी साहब ने राजनीति, समाज नीति और देश से सम्बंधित अधिकतर मुद्दों पर संक्षेप में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

Charan Singh Archives
www.charansingh.org

मूल्य ₹६६